शिक्षक और उसका व्यवसाय

❑ नवल किशोर सोनी

प्रस्तुत आलेख में प्राथमिक विद्यालय शिक्षकों की व्यावसायिक स्थिति को केन्द्र में रखकर विचार किया गया है । देश में उपनिवेशकालीन शिक्षा-प्रणाली में कोई आमूल रुपान्तरण नहीं हुआ अपितु उसका विस्तार भर हुआ है । शिक्षक एक नियंत्रित व्यवस्था में कार्यरत हैं, जहां उसे पाठ्यक्रम, पाठ्यसामग्री और शिक्षण-विधि के क्षेत्र में स्वायत्तता उपलब्ध नहीं है । इस कारण शिक्षक के पेशे की महत्ता का निरंतर ह्रास हुआ है और उनकी व्यावसायिक गुणवत्ता और विशेषज्ञता के अवसर कम होते गये हैं ।

सरकारी घोषणाओं एवं पंचांग के अनुसार विद्यालयों में कुछ जयंतियों, पर्वो, अथवा दिवसों को मनाने के आयोजन समय समय पर होते रहते है । इन सबके पीछे सरकारों के अपने सोच होते हैं । जैसे नेहरू जी के जन्म दिन को बाल दिवस के रूप में मनाना। सरकारी या गैरसरकारी शालाओं में जिस प्रकार बाल दिवस को मनाने की प्रवृत्ति पर रही है । उसे देखकर बाल दिवस को सीधे नेहरू दिवस ही कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि इस दिन नेहरू जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित भारी भरकम शब्द जाल को सुनने के अलावा बच्चों के लिए और अधिक हम कुछ नहीं कर पाते हैं । इसी तरह डॉ. राधाकृष्णन के जन्म दिन से जोड़कर शिक्षक दिवस मनाया जाता रहा है । इसलिए नहीं कि डॉ. राधाकृष्णन ने देश के सर्वोच्च पद को त्यागकर शिक्षण कार्य शुरू कर दिया था या वे शिक्षक बन गए थे, अपितु इसलिए कि उन्होंने शिक्षक के पद को त्यागकर देश के सर्वोच्च पद को स्वीकार किया था ।

परन्तु क्या ही अच्छा होता कि शिक्षक दिवस, शिक्षक के आत्मावलोकन, आत्ममंथन अथवा आत्म चिंतन कर सकने के रूप में मनाया जाता । हालांकि यह प्रक्रिया शिक्षक के जीवन में सतत रूप से चलनी चाहिए । बेहतर होता कि अध्यापन से अपनी पूरी जीवन यात्रा के तहत, इस दिन ठहरकर विशेष रूप से हम सभी शिक्षक अपने कार्य, अपने व्यवसाय को लेकर, अपनी जिम्मेदारियों को लेकर चिंतन करते ।

राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार एवं विस्तार की दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा प्रणाली सबसे बड़ा तंत्र है । इस प्रणाली के तहत प्राथमिक शिक्षा में कार्य कर रहे शिक्षकों की व्यावसायिक स्थिति को केन्द्र में रखकर बात करें तो शिक्षक का पेशा उन दूसरे पेशों के मुकाबले अपनी एक सशक्त पहचान नहीं बना पाया, जिनमें पेशेगत मामलों में अलग से अधिकार दिये जाते हैं । आज भी डाक्टरी और वकालत जैसे पेशों की तुलना में अध्यापन कार्य को बिना विशेषज्ञता वाला कार्य क्यों माना जाता रहा है? इसका एक मुख्य कारण शैक्षणिक मामलों में शिक्षकों को पूर्ण स्वायत्तता का प्राप्त न होना रहा है । यदि शिक्षकों को स्वायत्तता दी जाती, उन्हें 'क्या पढ़ायें और कैसे पढ़ायें ? इस पर स्वयं सोचने व निर्णय करने का अधिकार दिया जाता । उन्हें पाठ्यक्रम बनाने व उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें चुनने की आजादी दी जाती तो संभव था कि शिक्षकीय पेशे की कोई पहचान बन पाती। परन्तु विडम्बना यह रही कि शिक्षकों की भूमिका विभाग की नौकरशाही द्वारा लागू की गई पाठ्य-पुस्तकों के पाठों को रटाने में मदद करना भर रही ।

यदि हम शिक्षा के मामले में भारतीय अतीत में झांक कर देखें तो पता चलता है कि उस समय पढ़ने-लिखने के बुनियादी कौशल सीखने-सिखाने का कार्य देश के अनेकानेक हिस्सों में देशी तरीकों से चलता था । धार्मिक शिक्षा को जीवन के एक अंग के रूप में देखा जाता था । पढ़ाने के पेशे का आधार जहां जाति व्यवस्था थी, वहीं इसे एक विशेष किस्म का सामाजिक कार्य भी समझा जाता था। शिक्षकों को विशिष्ट आदर और सम्मान से देखने की प्रवृत्ति आम थी । उन्हें इस बात का निर्णय करने का अधिकार था, कौनसा 'ज्ञान' पढ़ाने लायक है और इसे कैसे पढ़ाया जाये ? उन्हें चुनाव करने की आजादी थी । यह दीगर बात है कि उस समय भी अधिकतर शिक्षक प्रचलित परिपाटी का ही सहारा लेते थे ।

ईस्ट इण्डिया कंपनी के साम्राज्य के स्थापित होने के बाद भारत में अंग्रेजों द्वारा लागू की गई केन्द्रीय सरकारी नियंत्रण की जो प्रणाली आई उसमें 'क्या पढ़ाया जाये और कैसे पढ़ाया जाये' से संबंधित शिक्षक की पहल को समाप्त कर दिया गया और सरकारी पाठ्यक्रम और किताबों के साथ साथ उपस्थति के रजिस्टर, दैनिक डायरी, विभिन्न खर्चों , परीक्षा-परिणाम इत्यादि का हिसाब-किताब रखने की जिम्मेदारी भी प्राथमिक शिक्षक पर थोप दी गई। आज

भी प्राथमिक शिक्षक के पास विभाग द्वारा थोपी गई पाठ्य-पुस्तकों को रटाने में बच्चों की मदद करने के अलावा जनगणना, मतदान, मतदाता सूचियां बनाना, पशु गणना, टीकाकरण, पल्स पोलियो अभियान, पोषाहार लाना, वितरित करना, स्कूल नामांकन व उपस्थिति प्रतिमाह केन्द्र पर पहुंचाना, विभिन्न रिपोर्ट बनाना, स्वास्थ्य संबंधित जांच अभियान जैसे अनेकानेक कार्यों की एक लंबी सूची होती है । इन सब जिम्मेदारियों का संबंध कहीं न कहीं सजा के डर और पैसों के नुकसान या अपनी सर्विस बुक में रिमार्क के डर से जोडा हुआ है।

अंग्रेजों के समय विद्यालयों में सरकारी निरीक्षणों के दौरान छात्र-छात्राओं के बेहतर प्रदर्शन को वित्तीय मदद का मापदण्ड माना जाता था। इसके परिणाम स्वरूप शिक्षकों में एक विशेष प्रकार का भय कायम हुआ । और इस भय का नतीजा यह हुआ कि शिक्षकों में चापलूसी, अपने आपको हीन समझने व अंग्रेजी अफसरों के प्रति नतमस्तक होने की प्रवृत्ति बढ़ी । निरीक्षण पर आने वाले अफसरों को येन-केन प्रकारेण खुश करना तथा उन्हें नाराज करने वाले छात्रों को अतिरिक्त सजा देना आम हो गया था। तत्कालीन समय में शिक्षकों और संबंधित अधिकारियों के बीच वेतन और हैसियत के बीच भारी अन्तर का होना भी एक महत्वपूर्ण कारक था, जिसके चलते अध्यापकों में अपने आपको हीन समझने की प्रवृत्ति में इजाफा हुआ । हैसियत और अधिकारों के मामले में भी संबंधित अधिकारियों का रुतबा कम नहीं होता था।

आज भी डाक्टरी और वकालत जैसे पेशों की तुलना में अध्यापन कार्य को बिना विशेषज्ञता वाला कार्य क्यों माना जाता रहा है ? इसका एक मुख्य कारण शैक्षणिक मामलों में शिक्षकों को पूर्ण स्वायत्तता का प्राप्त न होना रहा है । यदि शिक्षकों को स्वायत्तता दी जाती, उन्हें 'क्या पढ़ायें और कैसे पढ़ायें ?' इस पर स्वयं सोचने व निर्णय करने का अधिकार दिया जाता। उन्हें पाठ्यक्रम बनाने व उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें चुनने की आजादी दी जाती तो संभव था कि शिक्षकीय पेशे की कोई पहचान बन पाती।

अब तक हमने शिक्षक की व्यावसायिक स्थिति को मद्दे नजर रखते हुए उपनिवेशकालीन शिक्षा व्यवस्था एवं वर्तमान स्थिति के संदर्भ में थोड़ी-सी चर्चा की । यहां हम वर्तमान परिदृश्य और नौकरशाही के नियंत्रण के चलते शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक के हतस्तक्षेप व नौकरशाही का प्राथमिक शिक्षक व शिक्षा व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसको लेकर बातचीत करेंगे । साथ ही प्राथमिक शिक्षक की व्यावसायिक स्थिति में कहां और कैसे सुधार की जरूरत है, इस पर भी थोड़ी चर्चा करेंगे ।

जैसा कि हम सब जानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को हम आजाद हो गये । देश में एक बडा परिवर्तन हुआ। अपेक्षा की गई कि कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य समस्याओं के लिए भी होगा। लेकिन विडम्बना यह रही की यह त्वरित गति अन्य क्षेत्रों में निष्पादित नहीं की जा सकी । अंग्रेज चले गये परन्तु उनके द्वारा लागू की गई शिक्षा प्रणाली को हम पूर्णतया समाप्त नहीं कर पाये। हमने शिक्षा प्रणाली का विस्तार तो किया लेकिन पाठ्यक्रम का निर्धारण करने, पाठ्यपुस्तकें लागू करने, अध्यापकों को यथोचित अधिकार देने और परीक्षा पद्धति इत्यादि की अंग्रेजी नीतियों से हम अभी निजात नहीं पा सके हैं । एक और महत्वपूर्ण बात जो मैं कहना चाहता हूं वह यह कि नई शिक्षा प्रणाली में सीखने-सिखाने की जो प्रक्रिया रही वह बच्चों के परिवेश और असली जीवन से कोसों दूर रही । इसका एक कारण यह रहा कि 'ज्ञान' का निर्धारण करने वाले लोगों का बच्चों की दुनियां, उनके सीखने की प्रक्रिया, सीखने वाले के इरादे, जिन स्थितियों में सीखने की क्रिया होनी है उन्हें और शिक्षण के लिए प्रयोग किये जाने वाले साधनों या परम्पराओं से बहुत कम सरोकार रहता है। यह तब संभव हो पाता है जब शिक्षकों को स्वत्वाधिकार दिये जाते हैं ।

परन्तु यह एक अस्वाभाविक स्थिति है कि हमारे यहां आज भी शिक्षक पूर्व निर्धारित व थोपी हुई पाठ्यपुस्तकों व पाठ्यक्रम से बंधा हुआ है। शिक्षक जो पढ़ा रहा है उस पर और पढ़ाने की गति पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है । नौकरशाही के नियंत्रण के चलते आज भी प्राथमिक शिक्षक शिक्षा विभाग के अधिकारियों के समक्ष भीगी बिल्ली बना हुआ है । डरते हुए, बिना कोई सवाल उठाते हुए वह उनके निर्देशों का पालन करता चला आ रहा है । कम वेतन और नीची हैसियत के चलते भी वह व्यवस्थाओं का विरोध नहीं कर पाता है। क्या इन सबके लिए एक हद तक हमारा शिक्षक स्वयं दोषी नहीं है ? यह भी एक कारण है कि जो लोग व्यवस्थाओं पर अपना नियंत्रण रखे हुए है, वे भी अपने निजी स्वार्थों के चलते व्यवस्थाओं में बदलाव के पक्षधर नहीं होते। कहने की कोशिश यह कर रहा हूं कि शिक्षक को एक नियंत्रित भूमिका में देखा जा सकता है । उसके हिस्से का काम है कि वह कक्षा में बच्चों को 'दो और दो चार होते हैं', पढ़ाये और वह पढ़ाता आ रहा है। पिछले कई वर्षों से यह प्रवृत्ति दिखाई दे रही है । शिक्षक अपनी व्यावसायिक शक्तिहीनता और नीची सामाजिक

हैसियत को कक्षा में सर्वशक्तिमान होने के मुखौटे के पीछे छिपाने का प्रयास करता रहा है ।

खासकर प्राथमिक शिक्षक की स्थिति यह है कि पाठ्यक्रम और पाठ्य-सामग्री के निर्माण जैसे मामलों में निर्णय और कल्पना का उपयोग करने के मौके उसके पास नहीं होते। वहीं पढ़ना-लिखना सिखाने का काम प्राथमिक शिक्षक के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का विशेष रूप से कमजोर हिस्सा होता है । वहां सिर्फ पढ़ना-लिखना सीखने के विभिन्न कौशलों पर विशेष जोर होता है । वांछित तरकीबों में छिपे सिद्धांतों को समझने की तरफ कोई ठोस प्रयास प्राथमिक शिक्षक के प्रशिक्षण में नजर नहीं आते । पढ़ाने की पद्धति व बाल मनोविज्ञान को लेकर शिक्षक का जो चिन्तन होना चाहिये वह नगण्य मात्र है । वह सिर्फ अपने पुराने व बोदे ज्ञान के बल पर ही आगे बढ़ना चाहता है । हमारा प्राथमिक शिक्षक कभी अपने आपसे सवाल नहीं करता कि क्या मुझको पाठ्यवस्तु का पूरा ज्ञान है ? क्या मेरा शिक्षण रोचक और सफल है ? क्या मुझे लालच और प्रलोभन देकर बच्चों को वश में करना पड़ता है । क्या मेरा विभाग मुझे बेहतर शिक्षण कार्य कराने की स्वतत्रंता और अनुकूलता मुहय्या कराता है ? यह एक अध्यापक का चिंतन होना चाहिये । परन्तु हमारा शिक्षक वर्ग भी इन सवालों पर विचार तक नहीं करता और न ही विभागीय अधिकारी इस दिशा में सोचते हैं।

शिक्षा व्यवस्था को लेकर ऊपर से नीचे तक हमारा जो तंत्र है, वह इस तरह से विकसित है कि उसमें खासकर प्राथमिक शिक्षक को एक नियंत्रित भूमिका में लाकर खड़ा कर दिया है । हमें यह ठीक से समझना चाहिए कि शिक्षा और शिक्षक की इस यथास्थिति के पीछे इस तंत्र के निहित स्वार्थ हैं क्योंकि शिक्षकों को स्वत्वाधिकार देने का मतलब होगा अधिक पेशेवर आत्म–निर्भरता, ऊंची हैसियत की मांग और स्थानीय नियंत्रण ।

यदि शिक्षकों को 'क्या पढ़ाया जाये और कैसे पढ़ाया जाये' पर स्वयं सोचने का मौका दिया जाता । उन्हें पाठ्य-पुस्तकें चुनने और पाठ्यक्रम निर्माण का अधिकार दिया गया होता तो उनकी पहचान पेशेगत दृष्टि से एक ऊंचे मुकाम पर होती । वह अपनी नियंत्रित भूमिका को छोड़कर आनन्दप्रद शिक्षा के लिए शायद चिंतन कर पाता। लेकिन हमें इस सत्य को भी स्वीकारना चाहिए कि जहां शिक्षा के प्रति नजरिये की जडें राजनीतिक अर्थ व्यवस्था में हों, वहां यह सब सहज रूप से हो पाना काफी कठिन-सा लगता है । इसके एक नमूने के तौर पर 1988-89 में आप्रेशन ब्लैक-बोर्ड के शिक्षक-प्रशिक्षण कम्पोनेंट को देखा जा सकता है। यह शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए था । इसके अन्तर्गत स्कूल में कुछ न्यूनतम ढांचा होना चाहिए जैसे स्कूल के लिए दो कमरे हों, दो अध्यापक हों, एक शिक्षण का किट हो इत्यादि । परन्तु यह सामग्री क्या और कैसी हो, इसका उपयोग कैसे किया जाये, यह सब दिल्ली में बैठकर तय किया गया । इसी तरह प्राथमिक विद्यालयों में काम कर रहे शिक्षकों के प्रशिक्षण की बात करें तो उन्हें प्रशिक्षण देने वालों के पास प्राथमिक स्कूल शिक्षण का कोई अनुभव नहीं होता । एन. सी. आर. टी. में जो लोग प्राथमिक विद्यालयों के लिए शिक्षाक्रम और पाठ्यपुस्तकें तैयार करते हैं, वे भी सामान्यत: सैकण्डरी स्कूलों से प्रोन्नत होकर आते हैं । कहने की कोशिश यह कर रहा हूं कि शिक्षा व्यवस्था को लेकर ऊपर से नीचे तक हमारा जो तंत्र है, वह इस तरह से विकसित है कि उसमें खासकर प्राथमिक शिक्षक को एक नियंत्रित भूमिका में लाकर खड़ा कर दिया है । हमें यह ठीक से समझना चाहिए कि शिक्षा और शिक्षक की इस यथास्थिति के पीछे इस तंत्र के निहित स्वार्थ हैं क्योंकि शिक्षकों को स्वत्वाधिकार देने का मतलब होगा अधिक पेशेवर आत्म-निर्भरता, ऊंची हैसियत की मांग और स्थानीय नियंत्रण । लिहाजा इस तंत्र को भय बना रहता है कि शिक्षकों की यथास्थिति में किसी बडे परिवर्तन से उनके अनुचित विशेषाधिकार नहीं छिन जायें । इस तंत्र को संचालित करने वाले लोगों पर कुछ दबाव बनाकर ही हम प्राथमिक शिक्षक के प्रति सरकार की चिन्ता के स्तर में कुछ बदलाव की आशा कर सकते हैं ।

यदि पूरी बातचीत को दोहराना चाहें तो कह सकते हैं कि

- उपनिवेश-कालीन केन्द्रीय सरकारी नियंत्रण की प्रणाली ने पाठ्यक्रम निर्माण से संबंधित शिक्षक की पहल को समाप्त कर दिया ।
- अध्यापन कार्य को बिना विशेषज्ञता वाला कार्य समझा जाने लगा ।
- शिक्षा व्यवस्था पर नौकरशाही के हावी होने के फलस्वरूप शिक्षक एक नियंत्रित भूमिका में सिमट कर रह गया ।
- शिक्षकों को अधिक पेशेवर आत्मनिर्भरता और स्थानीय नियंत्रण में समाज की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का बाधक होना एक कारक रहा ।
- शिक्षकों को शिक्षण सामग्री के चुनाव और पाठ्यक्रम निर्माण के मामलों में स्वायत्तता का मिलना एक मुद्दा है।
- प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण में सिद्धांतों एवं कौशलों के बीच समन्वयन बैठाने की जरूरत है । ◆